भारत में शिक्षा व्यवस्था को लेकर समय-समय पर सवाल उठाए जाते रहे हैं। इस लेख में लगभग 40 वर्ष पहले शिक्षा को लेकर शुरू की गई एक बहस के हवाले से वर्तमान शिक्षा की दशा-दिशा की चर्चा की गई है। लेखक का मानना है कि भूमंडलीकरण, निजीकरण और बाजारीकरण के वर्तमान दौर में पहले से कहीं गहरे और गंभीर सवाल हमारे सामने मुंह बाए खड़े हैं। लेख इस बात की ओर ध्यान दिलाता है कि शिक्षक की स्वायत्ता और उनकी आर्थिक स्थिति के प्रश्न अब पहले से कहीं ज्यादा चिंताजनक हैं। पठन सामग्री और भाषा के प्रश्नों पर सुधार के कुछ प्रयास नजर आते हैं। पाठ्यसामग्री में बदलाव कुछ उम्मीद जगाते हैं लेकिन भाषा संबंधी बदलाव खास तरह के दबाव में हुए हैं। लेखक ने इसके पीछे के मंसूबों को लेकर आशंकाएं व्यक्त की हैं।

कमलानंद झा

शिक्षा एवं आलोचना पर विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में लेख प्रकाशित हुए हैं। वर्तमान में सेन्ट्रल यूनिवर्सिटी ऑफ हरियाणा के हिन्दी विभाग में एसोसिएट प्रोफेसर के पद पर कार्यरत हैं।

सुधार भी सवाल भी

पिछले दो दशकों से आरंभ हुई भूमंडलीकरण, निजीकरण और बाजारीकरण की प्रक्रिया के प्रभाव आज हमारी शिक्षा व्यवस्था पर साफ देखे जा सकते हैं। भूमंडलीकरण, निजीकरण और बाजारीकरण के अगुवा पैरोकार अमेरिका और हिंदुस्तान में एक स्पष्ट फर्क यह देखा जा सकता है कि शिक्षा के निजीकरण में हमारा देश अमेरिका से बहुत आगे है। उदारीकरण के दौर से पहले ही भारतीय शिक्षा को लेकर अनेक सवाल उठाए जाते रहे हैं। इस नए दौर के आरंभ ने इन सवालों को और कटु बनाया है। 20 अगस्त 1972 के 'साप्ताहिक दिनमान' में प्रसिद्ध शिक्षाविद कृष्ण कुमार ने 'शिक्षा की क्रांति का अर्थ' नाम से एक अत्यंत जीवंत और रोचक बहस आमंत्रित की थी। उक्त बहस में शिक्षा संबंधी कुछ ऐसे मुद्दे उठाए गए थे जिनसे बचकर निकलना तो आसान था/है किंतु उससे जिरह करना अत्यंत कठिन है। आज लगभग चालीस साल बाद पीछे मुड़कर उस बहस से गुजरना आसान नहीं। इस संदर्भ में पहला सवाल यह उठता है कि इतने वर्षों बाद क्या आज भी उस बहस



में ताप शेष है? क्या बहस के प्रमुख मुद्दे आज भी प्रासंगिक हैं? अगर वे मुद्दे प्रासंगिक हैं तो वे किस तरह भारतीय शैक्षिक परिदृश्य को प्रभावित कर रहे हैं? क्या उन मुद्दों से जुड़ी समस्याओं का हल हम आज निकाल पाए हैं? यह वे मुद्दे हैं जो आज और अधिक विकट रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत हो रहे हैं।

शिक्षक की स्वायत्ता के प्रश्न

बहस का पहला मुद्दा यह था कि भारतीय शिक्षा तंत्र में पूर्ण परिवर्तन कैसे संभव हो सकता है? लेखक की राय यह थी कि 'शिक्षायी क्रांति पर सार्थक चिंतन का पहला चरण यह होना चाहिए कि भारतीय शिक्षा की सबसे महत्त्वपूर्ण संस्था कॉलेज या विश्वविद्यालय न होकर स्कूल हो।' ...'शिक्षा जगत की समस्त गतिविधियों का केन्द्र शिक्षक बने। ...पाठ्यक्रम निर्माण, पुस्तक चयन व लेखन, परीक्षा, नई नियुक्तियां, आदि सारी जिम्मेदारियां शिक्षक के भरोसे छोड़ दी जाएं तथा उनमें राजनेताओं व नौकरशाहों का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष, किसी-किस्म का प्रभाव न हो।'

शिक्षा के बारे में यह प्रगतिशील सोच आज 40 साल के बाद भी प्रशासकों, नीति निर्धारकों, राजनेताओं तथा नौकरशाहों की समझ से परे है। यह तर्क सामान्य लोगों, यहां तक कि शिक्षकों के भी, गले नहीं उतरता जो नौकरशाही और राजनेताओं की तरह सोचते-विचारते हैं। उस बहस में भाग लेने वाले संवादियों विशेषकर अधिकारियों की प्रतिक्रिया से साफ पता चलता है कि बहस के इस मुद्दे से वे विचलित हो गए थे। दरअसल अपनी बुद्धि और ज्ञान पर अत्यधिक भरोसा उनके लिए किन्हीं पर यकीन कर पाने को नामुमकिन बनाता है। यह सामंती और उपनिवेशी सोच अपने से कद और पद में छोटे व्यक्ति को मूर्ख ही नहीं महत्त्वहीन भी समझती है। अंग्रेजों की यह समझ कि 'भारतीयों से उनका देश नहीं संभालेगा' और आज भारतीय पुरुषों की यह सोच कि 'औरतों से पंचायत नहीं संभलेगा' तथा नौकरशाहों की यह समझ कि 'शिक्षकों से स्कूल नहीं संभलेगा', सामंती सोच की ही देन है। जिस शिक्षक समुदाय पर हम इतना भरोसा करते हैं कि वे भावी पीढ़ी का निर्माण करेंगे, उस पर यह संदेह कि वे शिक्षा के संसाधनों का सही इस्तेमाल, प्रक्रियाओं का निर्धारण और नीतिगत निर्णय नहीं कर सकते; अनुचित प्रतीत होता है। इस तरह की सोच शिक्षक समुदाय को हीन समझने की मानसिकता की ही परिचायक है।

शिक्षा के क्षेत्र में यही हो रहा है। आज भी शिक्षा संबंधी निर्णयों में व्यावहारिक रूप में शिक्षकों को शामिल नहीं किया जाता। सन् 1972 में अधिकांश शिक्षक नियमित और पूर्ण वेतन पर कार्यरत थे और उनमें नियमित शिक्षक होने का आत्मविश्वास तो कम-से-कम था। शिक्षकों को लेकर आज स्थिति बदतर ही हुई है। आज अधिकांश शिक्षक अनियमित और मानेदय पर कार्यरत हैं। अधिकारियों का हल्का भृकुटि कंपन उनकी रोजी-रोटी छीन लेने के लिए पर्याप्त है। ऐसे में अधिकारियों के आगे विनीत भाव से हाथ जोड़े खड़े रहने के अलावा उनके पास दूसरा चारा भी नहीं है। जहां नौकरी ही कृपा पर टिकी हो, वहां निर्णय में हिस्सेदारी की कौन पूछता है? यह हमारे समाज में शिक्षक की दयनीय स्थिति को ही प्रकट करता है।

असल में इन नौकरशाहों को यह पता है कि हमने जिस तरह के शिक्षकों को बहाल किया है, वे न तो कोई परिवर्तन करना चाहेंगे

और न ही किसी तरह के निर्णय में शामिल होना। हाल में बिहार में दो लाख शिक्षकों की बहाली की गई है, उसमें अधिकतम उम्र और अधिकतम अंक को वरीयता दी गई। चयन प्रक्रिया में गुणवत्ता के लिए कोई जगह नहीं थी। इसका भारी दुष्परिणाम यह हुआ कि आज से दस-बीस साल पहले सेवा में आने की उम्र गंवाकर, रोजगार न मिलने पर जिंदगी से थक-हारकर दिल्ली, बंबई और कलकत्ता जैसे महानगरों में कारखानों, दुकानों और दिहाड़ी पर मजदूरी करने वाले सरकारी नौकरी की लालच में अध्यापक बन गए। ऐसे थके-हारे और निराश लोगों के अतिरिक्त इसमें ऐसे युवाओं को भी नौकरी हाथ लग गई जिन्होंने शिक्षकों की अनुकंपा से उच्च अंक प्राप्त कर लिए थे किंतु बेरोजगारी के आलम में गांव-कस्बे के चौराहे पर खाली बैठे रहते थे। हम कल्पना कर सकते हैं कि ऐसे शिक्षकों के भरोसे शिक्षा में किस तरह परिवर्तन संभव होगा? यह तभी संभव है जब सरकार दक्ष, कुशल और गुणी शिक्षकों की नियुक्ति करे। ऐसे शिक्षकों पर निश्चित तौर पर शिक्षा संबंधी सभी जिम्मेदारियां छोड़ी जा सकती हैं। किंतु नौकरशाह और राजनेता ऐसा नहीं चाहते। इस दृष्टि से कृष्ण कुमार की यह स्थापना बिलकुल सही प्रतीत होती है -- ''उनकी (सरकार) प्रवंचक प्रवृत्ति समझ कर आमूल परिवर्तन की आवश्यकता को सही संदर्भ में परखने की अनिच्छा स्कूल के अध्यापक में महज इसलिए है क्योंकि उसके स्वतंत्र चिंतन को नौकरशाही व राजनीति ने कभी अभ्यास का अवसर नहीं दिया। उसकी हिचकिचाहट का संकट मनोविज्ञान से संबद्ध है न कि कार्यकारी अक्षमता से जैसा कि प्रायः सोचा जाता है। अपने हर कदम के लिए राजधानी के आदेश पर आश्रित रहने वाला यह निरीह, सम्मानहीन प्राणी वाणी के छद्म स्वातंत्र्य का जीवित अवतार है। ...उसके अस्तित्व की 'सार्थकता' अपने पद की सीमाएं ताड़कर चुपचाप बैठे रहने और 'काम' में लगे रहने में है।''

जहां तक सवाल विश्वविद्यालय और कॉलेज की अपेक्षा स्कूल की महत्ता का है, उन दिनों भी यह बात लोगों के गले नहीं उतरी होगी और आज चालीस वर्ष बाद जब कि शैक्षिक विमर्श और चिंतन के आयाम अत्यंत विस्तृत हुए हैं, लोगों के गले के नीचे नहीं उतर रही है। आश्चर्य का विषय यह है कि शिक्षा जैसे सजीव, जीवंत और महत्त्वपूर्ण भवन की नींव सर्वाधिक कमजोर और अशक्त क्यों रखना चाहते हैं? हम सभी जानते हैं कि शिक्षा को मौलिक अधिकार का दर्जा देने भर से स्कूल का महत्त्व और कद विश्वविद्यालय और कॉलेज की अपेक्षा बढ़ने वाला नहीं है। स्कूल का महत्त्व बढ़ेगा सामाजिक मानसिकता में बदलाव से, स्कूल की गुणवत्ता बढ़ाने से, सर्वाधिक योग्य और दक्ष शिक्षकों की नियुक्ति से, स्कूल की आधारभूत संरचना और संसाधन बढ़ाने से और शिक्षकों के उच्च वेतन से। स्कूल के महत्त्व का ग्राफ तो तभी नीचे खिसक जाता है जब सरकार जब-तब स्कूल शिक्षकों को गैर-शैक्षिक कामों में धड़ल्ले से लगा देती है।

सन् 1972 में जब यह बहस शुरू हुई उस समय मुख्य रूप से विधानसभा और लोकसभा दो ही चुनाव होते थे, जिसमें प्रत्येक शिक्षक को एक चुनाव ड्यूटी करनी होती थी। आज तो इन दो चुनावों के अतिरिक्त पंचायत चुनाव और न जाने कितने तरह के अतिरिक्त कामों में शिक्षकों को लगा दिया जाता है। मध्याह्न भोजन और पोशाक वितरण कार्यक्रम तो सरकार ने चला दिया किंतु इसके लिए समुचित मानव संसाधन की व्यवस्था नहीं हो पाई। फलस्वरूप कभी कोई शिक्षक चावल उठाने ब्लॉक जाते हैं तो कोई शिक्षक कपड़े का बंडल लेने तो कोई शिक्षक बच्चों को नाप दिलवाने। अब शिक्षकों को पढ़ाई की चिंता से अधिक मध्याह्न भोजन तथा पोशाक वितरण की चिंता होती है। यदा-कदा मध्याह्न भोजन से बच्चे बीमार होते रहते हैं और इसको लेकर आए दिन हो-हल्ला मचता रहता है। इसलिए इस कार्य में

सरकार चाहती है कि लगातार हमारे शिक्षक आर्थिक कशमकश में रहें, इतने तनाव में रहें कि किसी तरह के परिवर्तन के बारे में सोच तक न पाएं। देश का शिक्षक जिस दिन से सोचने लगेगा, विचारने लगेगा उस दिन परिवर्तन और क्रांति के दरवाजे खुलने लगेंगे और नेताओं, नौकरशाहों, अधिकारियों की कलई खुलने लगेगी।

अधिक तत्पर होना शिक्षकों की मजबूरी है। उन्हें मालूम है कि कम पढ़ाने या न पढ़ाने से उनकी नौकरी को खतरा नहीं है किंतु चावल-कपड़े के हिसाब गड़बड़ाने या मध्याह्न भोजन खाने से बच्चों की तबियत बिगड़ने से उनकी नौकरी जा सकती है। इसलिए शिक्षकों को गैर-शैक्षणिक कामों में लगाने की चिंता सन् 1972 में जितनी थी, आज वह समस्या कई गुना बढ़ गई है और स्कूल शिक्षकों की हैसियत स्वभावतः पहले की अपेक्षा काफी घट गई है।

सरकार शिक्षकों के प्रति कितनी चिंतित है, यह देखना हो तो सूचना एवं प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार से प्रकाशित पत्रिका 'कुरूक्षेत्र' का मई 2011 का अंक अवश्य देखें। 'गांवों में शिक्षा' विशेषांक, इस पत्रिका में ग्रामीण शिक्षा का महात्म्य इस रूप में प्रस्तुत किया गया है जैसे भारतीय गांवों की शिक्षा संबंधी सारी समस्याओं का हल कर लिया गया है। सरकारी नीतियों और योजनाओं के महिमामंडन से पूरी पत्रिका डूब-उतरा रही है किंतु शिक्षकों की दशा और भूमिका पर एक भी आलेख नहीं है। शिक्षकों की दशा और दिशा पर सरकारी पत्रिका की इस चुप्पी के निहितार्थ आसानी से समझे जा सकते हैं।

शिक्षकों की आर्थिक स्थिति का प्रश्न

इस बहस का दूसरा मुद्दा शिक्षकों की आर्थिक स्थिति है। यह मुद्दा गंभीर ही नहीं किसी शोक गीत की तरह अत्यंत दुखी करने वाला है। कृष्ण कुमार की स्पष्ट राय है, ''वैचारिक सम्पन्नता का जीवन आदर्शों और प्रोत्साहन के सहारे नहीं, पर्याप्त आय के सहारे जिया जाता है और उसी पर किसी व्यक्ति की स्वच्छंद क्रियाशीलता निर्भर करती है। ...जहां जिले भर पर रोब रखने की कीमत दुनिया भर की सुख-सुविधाओं के गणित से आंकी जाती है, वहां देश की भावी पीढ़ी को अनुशासनपूर्वक जीना सिखाने वाला देश के कई हिस्सों में नब्बे रुपया तनख्वाह पर ढाई रुपये की सालाना वृद्धि पाता है।''

इस बहस में भाग लेने वाले कई शिक्षक संवादियों की आप बीती रोंगटे खड़े करने वाली है। उन्हीं दिनों हिंदी कवि नागार्जुन ने स्कूल और शिक्षकों की दयनीयता पर कई उत्कृष्ट कविताएं लिखीं, जिनमें 'स्कूल मास्टर' और 'प्रेत का बयान' अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। लगभग सन् 1980 के बाद शिक्षकों की आर्थिक स्थिति में बदलाव आया। उनकी आर्थिक स्थिति क्रमशः ठीक हो ही रही थी कि सन् 2000 के बाद से पूरे देश में शिक्षकों की बहाली में ठेकेदारी प्रथा चालू हो गई। देश के अधिकांश राज्यों में शिक्षा-मित्र तथा अन्य लोक लुभावन नाम से अत्यंत अल्प वेतन पर बड़ी संख्या में शिक्षकों की नियुक्ति अनियमित पद पर हुई। बिहार में शिक्षा-मित्र के अलावा लगभग दो लाख शिक्षकों की ठेके पर बहाली हुई। पगार के रूप में प्रति माह पांच-छह और सात हजार रुपये क्रमशः प्राथमिक, माध्यमिक और उच्च माध्यमिक शिक्षकों के लिए निर्धारित किए गए। सरकार की कृपा से साल-दो-साल पर उनके वेतन में हजार रुपये का इजाफा कर दिया जाता है।

अब यह तो कोई अर्थशास्त्री ही बता सकता है कि सन् 1972 में 90 रुपये से आज के पांच हजार अधिक हैं या कम। लेकिन इतना तो कोई भी बता सकता है कि न्यूनतम सुविधा तथा स्वाभिमान के साथ एक छोटे परिवार को जीने के लिए यह रकम अपर्याप्त है। इस अल्प वेतन में आसमान छूती मंहगाई के साये में शिक्षक कैसे अपना गुजर-बसर करें। दुख की बात यह है कि यह अल्प वेतन भी समय से नहीं मिल पाता है। आजादी के लगभग 23 साल बाद सन् 1972 में शिक्षकों को नियमित वेतन नहीं मिल रहा था और आज 2011 में भी नहीं मिल रहा है। बहस में भाग लेने वाले मुंगेर निवासी नारायण सिन्हा को 1972 में भी वेतन के लिए आंदोलन करना पड़ता था और गैर-सरकारी प्राथमिक स्कूलों के सरकारीकरण की घोषणा से उन्हें संतोष हुआ कि 'अब वेतन तो हर महीने मिलेगा, बुढ़ापे में पेंशन मिलेगी, बेटे का मोहताज नहीं रहूंगा, किन्तु सरकारी घोषणा अभी तक कागज पर ही है।' सन् 2011 में भी यह घोषणा कागज पर ही है। प्रत्येक महत्त्वपूर्ण शैक्षिक कार्यक्रम के उद्घाटन समारोह में नेता, मंत्री या सरकारी प्रतिनिधि घोषणा करते हैं कि शिक्षकों के वेतन को नियमित कर दिया जाएगा, बावजूद इसके आए दिन समाचार पत्रों में 'नियोजित शिक्षकों के समक्ष भुखमरी की समस्या' (हिन्दुस्तान, मुजफ्फरपुर, 24 जून 2011), 'कई महीनों से नहीं मिला वेतन', 'इस बार भी फीकी जाएगी शिक्षकों की होली', 'वेतन बिना ईद बना मुहर्रम', आदि खबरों से समाचार-पत्र भरा होता है।

अल्पवेतन या समय पर वेतन न मिलने का एक ही रटा-रटाया कारण सन् 1972 से सरकार यही देती आ रही है कि 'बजट में पैसा नहीं है'। सवाल यह है कि अन्य कार्यों के लिए बजट में पैसा कहां से आ जाता है? 'राज्य दिवस' को भव्य रूप में मनाने के लिए राज्य सरकार के पास करोड़ों रुपये होते हैं, कई अन्य तरह के उच्च स्तरीय कार्यक्रम करने के लिए अकूत पैसे बजट में होते हैं, अधिकारियों की यात्राओं पर करोड़ों रुपये बजट में निर्धारित होते हैं, लगातार सरकारी अधिकारियों के बढ़ते वेतन के बढ़ोतरी रकम के पैसे होते हैं, धनाढ़य बच्चों को अपेक्षाकृत सस्ती शिक्षा

> **इन (एन.सी.ई.आर.टी.) पाठ्यपुस्तकों से बच्चों में हीन ग्रंथि उत्पन्न करने वाली रूढ़-छवियुक्त प्रार्थनाएं समाप्त कर दी गईं जो ईश्वर मात्र को पूर्ण और बच्चों में दास भाव उत्पन्न करने वाली थीं या बच्चों को सभी चीजों से कुछ-न-कुछ सिर्फ सीख देने की प्रेरणा से लिखी गईं थीं। पाठों के चयन में भी अलग-अलग क्षेत्रों से जुड़े लोगों के लिखे पाठ चुने गए हैं। पाठों के चयन और क्रम लगाने में 'महानता' को शर्त नहीं माना गया है। पाठों के चयन में शुचिता से अधिक संवेदना की सच्चाई पर ध्यान दिया गया है।**

देने हेतु 6000 मॉडल स्कूल खोलने (11वीं पंचवर्षीय योजना) के लिए बेशुमार पैसे का प्रबंध बजट में होता है किंतु पूरे देश में फैले दो कमरे और दो शिक्षक वाले सरकारी स्कूल के लिए और शिक्षकों के वेतन के लिए बजट में पैसा नहीं होता है। जब देश इतना गरीब है कि प्राथमिक-माध्यमिक शिक्षा के लिए बजट में पैसा नहीं होता, शिक्षकों के वेतन के लिए बजट में पैसा नहीं होता तो फिर अरबों-खरबों का सीरियल घोटाला इस देश में किस तरह हो जाता है? इसलिए हम कह सकते हैं कि आर्थिक कारण महज बहाना है। सरकार चाहती है कि लगातार हमारे शिक्षक आर्थिक कशमकश में रहें, इतने तनाव में रहें कि किसी तरह के परिवर्तन के बारे में सोच तक न पाएं। देश का शिक्षक जिस दिन से सोचने लगेगा, विचारने लगेगा उस दिन परिवर्तन और क्रांति के दरवाजे खुलने लगेंगे और नेताओं, नौकरशाहों, अधिकारियों की कलई खुलने लगेगी।

पठन-पाठन सामग्री के सवाल

बहस का तीसरा महत्त्वपूर्ण मुद्दा स्कूल की पाठ्यपुस्तकों और पाठ्यसामग्रियों पर केन्द्रित है। उनके अनुसार, ''यह एक विडंबना है कि स्वाधीन भारत वर्ष की बालपोथियां आज के दिन तक उपनिवेशीय मनोविज्ञान की अभ्यास पुस्तिकाएं मात्र हैं। सामाजिक तथा राष्ट्रीय जीवन के एक नूतन, अनगढ़ स्वरूप की झलक देने के स्थान पर हमारी पाठ्यपुस्तकें जीर्ण तथा उलझे हुए व्यक्तिगत व सामूहिक मूल्यों के पुराणों का काम करती हैं जिन्हें पढ़कर वयस्क बनने के समय तक बालक को अपनी नियति यही जान पड़े कि उसकी सफलता देश की खटखटिया मशीन का एक तेल लगा पुर्जा बन जाने में निहित है।'' इतना ही नहीं आगे उन्होंने इस मुद्दे को और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है, ''उपदेश देने की कुंठा से हम इस कदर ग्रस्त हैं कि हमारे बाल साहित्य का हर पृष्ठ कोई नसीहत देने की नीयत से लिखा जाता है और पाठ्यपुस्तकों की कहानियां पढ़ने के बाद बच्चों से पूछा जाने वाला पहला सवाल यह होता है कि उसे इस कहानी से क्या शिक्षा मिलती है। इतिहास पढ़ाने का ढंग हमारा ऐसा है कि बच्चे शहंशाहों के जन्म और मरण की तारीखें याद करके परीक्षा में उत्तीर्ण हो जाएं।''

सन् 2005 से पूर्व देश की सबसे मानक संस्था राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान एवं प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) से प्रकाशित पाठ्यपुस्तकें भी उपर्युक्त दोषों से मुक्त नहीं थीं। विशेषकर हिंदी की पाठ्यपुस्तकों में कई ऐसे पाठ थे जो राष्ट्रीय शिक्षा नीति 1986 के विरुद्ध तो थे ही, सामान्य मानवता के विरुद्ध भी थे जैसे हिंसा को महिमामंडित करने वाले पाठ (खूनी हस्ताक्षर), जातिवाचक नौकर को चोर कहने वाले पाठ (अतिथि देवो भव), सती प्रथा को महिमामंडित करने वाले पाठ (लाल अंगारों की मुस्कान) तथा सौतेली मां के प्रति नकारात्मक सोच उत्पन्न करने वाले पाठ (आत्मनिर्भरता) आदि।

जब कृष्ण कुमार एन.सी.ई.आर.टी के निदेशक हुए तो उनके नेतृत्व में सभी विषयों की पाठ्यपुस्तकों में आमूल-चूल बदलाव लाया गया। पाठ्यपुस्तक की भाषा, विषय-वस्तु ही नहीं बल्कि

मूल्यांकन आदि पर गंभीरता से विचार किया गया। 'भाषाओं को पढ़ाने के लिए पाठ्यचर्या 2005' इस बात की ओर ध्यान दिलाना चाहता है कि 'जहां तक भाषा और सत्ता/वर्चस्व के संबंध का प्रश्न है हम सभी जानते हैं कि किसी खास तरह के उच्चारण अथवा लेखन व्यवस्था को सही, शुद्ध और मानक के रूप में देखते हैं तो दरअसल हम यह कहना चाहते हैं कि समाज में वर्चस्वशाली समूह का अंग बनने के लिए इसी को अपनाना होगा और व्यवहार में लाना होगा।' जाहिर है कि यह वक्तव्य रूढ़ मानकीकरण के खिलाफ है जो अन्य तरह के उच्चारण और भाषा को ही नहीं बल्कि भाषाई शक्ति तक को दरकिनार कर देता है। ऐसी स्थिति में वर्चस्वशाली वर्ग की भाषा सभी पर लादने की कोशिश की जाती है। स्त्री-अस्मिता के संदर्भ में इस पाठ्यक्रम में दो टूक कहा गया है कि 'स्त्रियों की आवाज को अपनी दमक, ऐश्वर्य और विविधता के साथ हमारी पाठ्यपुस्तकों और शिक्षण पद्धतियों में महत्त्वपूर्ण स्थान देने की आवश्यकता है।'

इन (एन.सी.ई.आर.टी.) पाठ्यपुस्तकों से बच्चों में हीन ग्रंथि उत्पन्न करने वाली रूढ़-छवियुक्त प्रार्थनाएं समाप्त कर दी गईं जो ईश्वर मात्र को पूर्ण और बच्चों में दास भाव उत्पन्न करने वाली थीं या बच्चों को सभी चीजों से कुछ-न-कुछ सिर्फ सीख देने की प्रेरणा से लिखी गईं थीं। पाठों के चयन में भी अलग-अलग क्षेत्रों से जुड़े लोगों के लिखे पाठ चुने गए हैं। पाठों के चयन और क्रम लगाने में 'महानता' को शर्त नहीं माना गया है। पाठों के चयन में शुचिता से अधिक संवेदना की सच्चाई पर ध्यान दिया गया है।

एन.सी.ई.आर.टी की नई हिंदी पाठ्यपुस्तकों के अधिकांश पाठ रोचकता के साथ-साथ कुछ-न-कुछ व्यापक उद्देश्य और अर्थ संकेत प्रदान करते हैं। जीवन-जगत को सभी कोणों से देखने की सिफारिश पाठ्यपुस्तकों में झलकती है। 'मीठा-मीठा गप्प और कड़वा-कड़वा थू' से परहेज करती ये पाठ्यपुस्तकें उभरते युवाओं को यथार्थ से साक्षात्कार कराती हैं। इस साक्षात्कार में आत्म के महिमामंडन के बरक्स आलोचनात्मक विवेक, संतुष्ट उत्तर के बरक्स प्रश्नाकुलता और हाशिए को केन्द्रीयता प्रदान करने की जद्दोजहद साफ दिखती है। यह नहीं कहा जा सकता कि नई पाठ्यपुस्तकों में कोई कमियां नहीं हैं, लेकिन पूर्व की अपेक्षा नई पाठ्यपुस्तकें निश्चित रूप से उम्मीद जगाती हैं।

एन.सी.ई.आर.टी. की पाठ्यपुस्तकों में तो परिवर्तन साफ-साफ दिखते हैं लेकिन अन्य सरकारी पाठ्यपुस्तकों और निजी प्रकाशकों द्वारा प्रकाशित पाठ्यपुस्तकों में आज भी उन सीमाओं के दर्शन हो ही जाते हैं, जिसकी तरफ उक्त बहस में ध्यान आकर्षित किया गया था। उम्मीद सिर्फ यह की जा सकती है कि अगर एन.सी.ई.आर.टी. की नई पाठ्यपुस्तकें कुछ वर्षों तक अस्तित्व में रहेंगी और राज्य सरकार एवं निजी प्रकाशक एन.सी.ई.आर.टी. को ही आधार मानकर अपनी पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित करते हैं, तो राज्य सरकार और निजी-प्रकाशन से प्रकाशित पाठ्यपुस्तकों की गुणवत्ता में भी इजाफा होने की संभावना बनती है।

भाषा के प्रश्न

उक्त बहस का चौथा मुद्दा अंग्रेजी की अनिवार्यता को लेकर था। अंग्रेजी को पहले प्रशासन से हटाने की आवश्यकता थी और बाद में शिक्षा से। किंतु हुआ यह कि कई राज्यों ने प्रशासन से अंग्रेजी को मात्र औपचारिक रूप से हटाया और शिक्षा से व्यावहारिक रूप से हटा दिया। केंद्र में अंग्रेजी की अहमियत वैसी ही बनी रही। शिक्षा से जब अंग्रेजी खत्म हो गई तो अमीर-उमराव के बच्चे पब्लिक स्कूल में अंग्रेजी पढ़ते रहे और उच्च अधिकारी की नौकरी पाते रहे। किंतु गांव के गरीब बच्चे अंग्रेजी के चतुर्थ श्रेणी की नौकरी के लिए ही उपयुक्त रह पाए। कृष्ण कुमार के शब्दों में, ''जब हम अंग्रेजी के साथ जुड़े सामाजिक व प्रशासनिक मूल्यों को नष्ट नहीं कर पाते, तब तक हमें यह अधिकार नहीं है कि हम समाज के विपन्न तथा मध्य वर्ग के बच्चों को अंग्रेजी पढ़ने के बोझ से मुक्त करने का दम भर के उन्हें शैक्षिक रूप से अपाहिज बना दें। ऐसा इसलिए कहना पड़ रहा है क्योंकि अंग्रेजी के बोझ से मुक्त होकर शेष विषयों में अभूतपूर्व स्तर वृद्धि का तर्क कहीं भी खरा नहीं उतरा है।'' उन्होंने अपना मंतव्य और अधिक स्पष्ट करते हुए आगे लिखा है, ''अंग्रेजी की मानसिकता से मुक्त हुए बिना यदि कोई सरकार समाज के साधनहीन वर्ग के अंग्रेजी-अध्ययन से मुक्त करती है, तो यह उस की एक गैर-समाजवादी दुर्नीत भर है जिससे सभी को वाकिफ होना चाहिए।''

सन् 1972 में निजी क्षेत्र में नौकरियां न के बराबर थीं। 1990 के बाद भूमंडलीकरण के दबाव में नौकरियों के इस गणित में आमूल परिवर्तन आया है और अब इनका एक बड़ा भाग निजी कंपनियों के हाथ में है। इन कंपनियों में अंग्रेजी ज्ञान से विमुख लोगों के लिए 'प्रवेश निषेध की तख्तियां' लटकी होती हैं। स्वभावतः सरकारी स्कूलों से उत्तीर्ण अधिकांश विद्यार्थियों के लिए निजी कंपनी की नौकरियां नहीं होतीं। उनके जिम्मे मानदेय पर अत्यंत साधारण पद की नौकरी हेतु लंबी कतार होती है,

सिपाही बहाली की दौड़ और लाठी चार्ज होता है या फिर 4-5 हजार की ठेके पर शिक्षक की नौकरी होती है। तात्पर्य यह कि आज शिक्षा के स्तर पर अंग्रेजी ज्ञान पहले से अधिक अनिवार्य हो गया है, जब तक कि इन निजी कंपनियों और अन्य महत्त्वपूर्ण सरकारी सेवाओं में अंग्रेजी की अनिवार्यता बनी रहती है।

अभी-अभी संघ लोक सेवा आयोग द्वारा लिया गया एक अहम फैसला हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के महत्त्व को स्वीकार करता है। इस फैसले के अनुसार जो उम्मीदवार सिविल सेवा की लिखित परीक्षा के लिए माध्यम के रूप में हिंदी के अलावा किसी अन्य भारतीय भाषा का चुनाव करते हैं वे अब उसी भारतीय भाषा तथा हिंदी या अंग्रेजी में साक्षात्कार भी दे सकेंगे। ध्यान देने की बात यह है कि यह अंग्रेजी परस्त संघ लोक सेवा आयोग का फैसला उसकी उदारता का नतीजा नहीं बल्कि भारतीय प्रशासनिक सेवा की परीक्षा देनेवाले चितरंजन कुमार द्वारा दायर जनहित याचिका के जबाव में दिया गया हलफनामा है। बंबई उच्च न्यायालय में दाखिल इस हलफनामे में कहा गया है कि एक विशेषज्ञ समिति की सिफारिशों के अनुरूप मुख्य परीक्षा अंग्रेजी में देने वाले उम्मीदवार भी अंग्रेजी, हिंदी या उसी भारतीय भाषा में साक्षात्कार दे सकेंगे जो उन्होंने परीक्षा के लिखित भाग में आवश्यक भारतीय भाषा के पेपर के लिए चुनी होगी। (हिंदुस्तान, 13 जुलाई, 2011)

न्यायालय के आदेश से एक ओर अगर संघ लोक सेवा आयोग की मौखिक परीक्षा में हिंदी समेत अष्टम अनुसूची में शामिल भाषाओं को महत्त्व मिला तो दूसरी ओर चुपके से अत्यंत चतुराई के साथ सिविल सेवा की प्रारंभिक परीक्षा (अब अभिक्षमता परीक्षण) में अंग्रेजी के महत्त्व को बढ़ा दिया गया है। जून 2011 की सिविल सेवा परीक्षा के प्रथम चरण अभिक्षमता परीक्षण, जिसमें उत्तीर्ण होने के बाद ही मुख्य परीक्षा में शामिल हुआ जा सकता है, के चार सौ अंकों की परीक्षा में से तीस अंक अंग्रेजी के रखे गए हैं। भारतीय भाषाओं के साथ अंग्रेजी भाषा के ज्ञान की जांच (क्वालिफाइंग) मुख्य परीक्षा में हुआ करती थी। इन परीक्षाओं के लिए अभी तक गठित महत्त्वपूर्ण समितियों में कोठारी समिति (1974), सतीशचंद्रा समिति (1988) एवं योगेन्द्र कुमार अलघ समिति (1999) सभी ने अपनी-अपनी सिफारिशों में हिंदी समेत निर्धारित भारतीय भाषाओं के महत्त्व को खुले दिल से स्वीकार किया है। इन्हीं समितियों की सिफारिशों का नतीजा है कि पिछले 30 वर्षों में गांवों और कस्बों की तरफ से इन सेवाओं में आने वालों की संख्या और भागीदारी बढ़ी है। किंतु बगैर किसी समिति की अनुशंसा के प्रथम चरण की परीक्षा में ही अंग्रेजी की अनिवार्यता यह सिद्ध करती है कि कहीं-न-कहीं हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं के छात्रों की भागीदारी को कम करने के लिए यह षड़यंत्रपूर्ण रणनीति अपनाई गई है। अगर अभी इसका तीव्र प्रतिवाद नहीं किया गया तो धीरे-धीरे मूल परीक्षा एवं माध्यम से भी इन भाषाओं को हटा दिया जाएगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन् 1972 में चलाई गई बहस 'शिक्षा की क्रांति का अर्थ' के अधिकांश मुद्दे आज भी प्रासंगिक रूप में हिंदुस्तान के स्कूली शिक्षा के सामने खड़े हैं और समकालीन शैक्षिक सरोकार से गहरे जुड़े हैं। आवश्यकता इस विमर्श को सकारात्मक रूप से और आगे बढ़ाने की है तथा किसी ठोस नतीजे पर पहुंचकर भारतीय स्कूल को अधिक-से-अधिक मजबूत और आनन्दप्रद बनाने की है। जहां शिक्षा के पदानुक्रम में छात्र और अध्यापक पहले स्थान पर हों। उन्हें सभी तरह के शैक्षिक निर्णय लेने का अधिकार हो तथा किसी भी बड़े अधिकारियों जैसी बराबरी और सम्मान प्राप्त हो। ◆